



e-ISSN: 2319-8753 | p-ISSN: 2347-6710

IJIRSET

International Journal of Innovative Research in
SCIENCE | ENGINEERING | TECHNOLOGY

INTERNATIONAL JOURNAL OF INNOVATIVE RESEARCH

IN SCIENCE | ENGINEERING | TECHNOLOGY

Volume 11, Issue 10, October 2022

ISSN INTERNATIONAL
STANDARD
SERIAL
NUMBER
INDIA

Impact Factor: 8.118

9940 572 462

6381 907 438

ijirset@gmail.com

www.ijirset.com

प्राचीन भारत में न्याय प्रणाली का ऐतिहासिक विश्लेषण

अरविंद सुलानिया

सहायक आचार्य, इतिहास, डॉ. भीमराव अंबेडकर राजकीय महाविद्यालय, श्रीगंगानगर

सार

शुरुआती समय में न्याय प्रशासन राज्य का कर्तव्य नहीं था। पीड़ित पक्ष को गलत कामों के निवारण के लिए आवश्यक कदम उठाने पड़े। सबसे सामान्य कदम गलत कर्ता के घर के सामने बैठना था और अपने दावे के संतुष्ट होने तक उसे बाहर निकलने की अनुमति नहीं देना था।

यदि वह अपने दम पर आवश्यक निवारण पाने में असफल रहा तो वह अपने दोस्तों की सहायता ले सकता है। यह बताता है कि क्यों हमें प्रारंभिक वैदिक साहित्य में न्यायिक संगठन के बारे में कोई संदर्भ नहीं मिलता है। बाद के वैदिक काल में हम एक आधिकारिक अधिकारी के रूप में सामने आए, जिसे न्यायाधीश माना जाता है। हालाँकि, यह दृश्य निर्णायक साबित नहीं हो सकता है। लेकिन हमें इस आशय के कुछ संकेत मिलते हैं कि सभा या लोकप्रिय ग्राम सभा ने कुछ विशेष मामलों में मध्यस्थ के रूप में काम किया।

धर्मसूत्र और अर्थशास्त्र हमें एक संकेत देता है कि न्यायपालिका अपने समय से पूरी तरह विकसित हो गई थी। राजा सर्वोच्च न्यायाधीश था और गलत करने वालों को दंड देना उसका कर्तव्य था। यदि राजा इस कर्तव्य को निभाने में असफल रहा, तो उसे नरक में जाना सुनिश्चित था। इसलिए, राजा हमेशा अपने समय के बहुत से समय को हर दिन के लिए समर्पित करता था। हालाँकि सिद्धांत रूप में किसी भी मामले को राजा के पास ले जाया जा सकता था लेकिन वास्तविक व्यवहार में केवल महत्वपूर्ण मामलों को ही राजा द्वारा सुना जाता था। काफी बार उन्होंने अपने न्यायिक कार्यों को मुख्य न्यायाधीश या अन्य शाही अधिकारियों को सौंप दिया।

सामान्य प्रवृत्ति स्थानीय विवादों को सुलझाने के लिए नगर परिषदों और ग्राम पंचायतों को प्रोत्साहित करना था। केवल, शाही दरबार में गंभीर मामलों पर मुकदमा चलाया गया। यहां तक कि इन मामलों में राजा से अपेक्षा की गई थी कि वे निष्पक्षता का पालन करें और धर्म या कानून के अनुसार मामले का फैसला करें।

परिचय

यह कानून विधायिका द्वारा अधिनियमित नहीं किया गया था, लेकिन श्रुतियों और स्मिट्रिट पर आधारित था। वास्तव में कानून को राजाओं का राजा माना जाता था और इसे आसानी से अलग नहीं किया जा सकता था।

न्यायालयों की संरचना भी समय-समय पर और राज्य से राज्य तक भिन्न होती थी। लेकिन विभिन्न राज्यों के न्यायिक प्रशासन की एक सामान्य विशेषता यह थी कि जूरी की व्यवस्था अस्तित्व में थी। यहां तक कि राजा और मुख्य न्यायाधीश को न्यायाधीशों के एक पैनाल द्वारा सहायता प्रदान की गई। आम तौर पर जुआरियों की संख्या तीन, पाँच या सात थी। बहुमत के निर्णय को सुनिश्चित करने के लिए इसे जानबूझकर अजीब रखा गया था।^[1]

न्यायाधीशों से उम्मीद की जाती थी कि वे धार्मिक, क्रोध से रहित और निष्पक्ष हों। जुआरियों से अपेक्षा की जाती थी कि वे राजा के विरोध में भी अपनी राय व्यक्त करें। वास्तव में एक इच्छाधारी राजा को भटक जाने और गलत निर्णय देने पर रोक लगाना उनका परम कर्तव्य था। न्यायाधीशों की निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिए उन्हें मुकदमों के लिए निजी साक्षात्कार देने की अनुमति नहीं है, जब तक कि उनका मामला नहीं सुलझ जाता। अर्थशास्त्री जोर देकर कहते हैं कि न्यायाधीशों की ईमानदारी को समय-समय पर एजेंटों के उत्तेजक द्वारा परीक्षण किया जाना चाहिए। विष्णु स्मृति भ्रष्ट न्यायाधीशों के लिए बहुत गंभीर दंड निर्धारित करती है। सभी संपत्ति का भंडाफोड़ और जब्ती।

नियमित आधिकारिक अदालतों के अलावा, कुछ लोकप्रिय अदालतें प्राचीन भारत में भी मौजूद थीं। वैदिक काल के दौरान सभा शायद एक लोकप्रिय अदालत के रूप में काम करती थी। संपत्ति की सीमाओं के विवादों को गांव के बुजुर्गों द्वारा सुलझाया गया था। याज्ञवल्क्य में तीन प्रकार की लोकप्रिय अदालतों का उल्लेख है-पुगा, सरेनी और कुला।[2]

ये लोकप्रिय अदालतें ब्रिटिश शासन की शुरुआत तक सही चलती रहीं, क्योंकि उनके फैसलों को आमतौर पर राजाओं द्वारा बरकरार रखा जाता था। सरकारी अदालतों ने केवल कुछ मामलों को स्वीकार किया जो लोकप्रिय अदालतों के फैसलों के खिलाफ अपील के रूप में आया था। यह ध्यान दिया जा सकता है कि लोकप्रिय अदालतों ने केवल दीवानी मामलों की कोशिश की और आपराधिक मामलों के संबंध में किसी भी शक्ति का आनंद नहीं लिया।

मामले पर विचार करते समय साक्ष्य के कारण वेटेज दिया गया था। गंभीर आपराधिक मामलों में सभी स्रोतों से सबूत स्वीकार किए जाते थे, लेकिन दीवानी मामलों में महिलाओं, ब्राह्मणों, सरकारी कर्मचारियों, नाबालिगों, देनदारों, आपराधिक रिकॉर्ड वाले व्यक्तियों आदि के प्रमाणों को बहुत अधिक वेटेज नहीं दिया गया था।

निम्न जाति के लोगों के सदस्यों का प्रमाण उच्च जाति के व्यक्तियों के विरुद्ध मान्य नहीं था। झूठे साक्ष्य बहुत घृणास्पद थे। एक व्यक्ति जिसने झूठे गवाह के रूप में काम किया, उसे भविष्य में सौ दुखी जन्मों सहित विभिन्न अस्थायी दंड भुगतने की उम्मीद थी।[3]

गंभीर संदेह के मामले में अभियुक्त को स्वीकारोक्ति स्वीकार करने के लिए यातना दी जा सकती है। इन यातनाओं में व्हिपिंग भी शामिल थी। आमतौर पर ब्राह्मण, बच्चे, वृद्ध, बीमार और गर्भवती महिलाओं को यातना से मुक्त किया जाता था। महिलाओं के मामले में यातना हल्की थी।

अपराध का पता लगाने के लिए विभिन्न प्रकार के आदेशों का पालन भी अदालत के बाहर मामलों को निपटाने के लिए किया गया था। अग्नि और विसर्जन द्वारा सबसे आम अग्नि परीक्षाएं थीं। स्मृति लेखकों ने सामान्य मामलों में इन अध्यादेशों का अनुमोदन नहीं किया और केवल उन्हीं मामलों में उन्हें अनुमति दी, जहाँ दोनों ओर कोई ठोस सबूत नहीं था।

विभिन्न प्रकार के दंड प्रचलन में थे। इनमें जुर्माना, कारावास, निर्वासन, उत्पीड़न और मौत की सजा शामिल थी। जुर्माना सबसे आम सजा था, सजा का फैसला करते समय, न्यायाधीशों ने अपराध की प्रकृति, अभियुक्त का मकसद, उसकी उम्र और समाज में स्थिति को ध्यान में रखा।

आमतौर पर हल्के दंड ब्राह्मणों और क्षत्रियों को दिए जाते थे। प्रारंभिक सूत्र ने हत्या की सजा के लिए जुर्माना लगाया था - एक क्षत्रिय को मारने के लिए 1,000 गाय, एक वैश्या के लिए 100, और एक शूद्र या एक महिला के लिए।

ब्राह्मण की हत्या को एक दंड द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता था। इन मवेशियों को राजा को सौंप दिया गया था, जिन्होंने उन्हें मारे गए व्यक्ति के रिश्तेदारों को सौंप दिया। इस प्रकार न्याय की प्राचीन भारतीय व्यवस्था के तहत सभी गंभीर अपराध हो सकते हैं, लेकिन जुर्माना हालांकि अपराध की गंभीरता के अनुसार भिन्न होता है और यह छोटे तांबे के सिक्कों से लेकर पूरी संपत्ति की जब्ती तक होता है।

कारावास एक और सामान्य सजा थी। यद्यपि स्मृति लेखक इसका उल्लेख नहीं करते हैं, यह अशोक और हर्ष के समय में काफी लोकप्रिय था। हेन त्सांग का कहना है कि कारावास हर्ष के तहत सजा का सबसे सामान्य रूप था।[4]

जिन लोगों को कारावास की सजा सुनाई गई, उन्हें अक्सर सड़क और सार्वजनिक स्थानों पर काम करने के लिए बनाया जाता था ताकि दूसरों पर इसका हानिकारक प्रभाव पड़ सके। अंगों के उत्परिवर्तन का भी एक दंड के रूप में सहारा लिया गया था आमतौर पर चोर के हाथ कटे हुए होते थे।

एक अन्य प्रकार की सजा को गायब कर दिया गया, जिसे आमतौर पर विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों में दिया गया था। मौत की सजा हत्यारों, देशद्रोहियों, उकैतों और जघन्य यौन अपराधों के दोषियों पर लगाई गई थी। हालांकि, गुप्तों के समय में दंडों को हल्का कर दिया गया था।

फा-हिण्ड हमें बताते हैं कि मौत की सजा उत्तरी भारत में लागू नहीं की गई थी। अधिकांश अपराधों में जुमनि से दंडित किया गया था। यहां तक कि विद्रोह जैसे गंभीर अपराधों के मामले में भी एक हाथ के विच्छेदन किया गया था।[5]

विचार-विमर्श

प्राचीन भारत की न्याय-व्यवस्था के बारे में धर्मग्रन्थों और न्याय प्रशासन के विषय में पर्याप्त जानकारी मिलती है। उस समय समाज में धर्म को सर्वाधिक महत्व था जिस कारण अधिकांश विधियों में धार्मिक नियम सम्मिलित थे। इस कारण से हमारे प्राचीन वेद-पुराणों, शास्त्रों, उपनिषदों आदि को तत्कालीन विधि का आधार सूत्र माना गया है।

प्राचीनकाल में भारत की न्याय व्यवस्था –

प्राचीन भारत के हिन्दू शासन-काल में न्याय तथा दण्ड-व्यवस्था का पूर्ण उत्तरदायित्व शासक पर होता था। उस समय यह धारणा थी कि राजा ईश्वर का ही अंश (Divine Right of King) है तथा राजा द्वारा दिया गया न्याय ईश्वरीय ईच्छा के अनुसार होने से उसके आदेशों का अनुपालन करना चाहिये। धार्मिक बन्धन तथा नैतिक सदाचरण पर बल दिये जाने के कारण अधिकांश लोग धर्म का पालन करते थे और वे प्रायः अपकृत्यों या अपराधों से दूर रहते थे।

परिणाम स्वरूप विधि और उस पर आधारित दण्ड व्यवस्था केवल उन्हीं लोगों के लिए आवश्यक होती थी जो दुराचरण करते थे। मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग या मोक्ष प्राप्ति की लालसा लोगों को सदाचारी जीवन व्यतीत करने के लिए प्रोत्साहित करती थी। राजा या शासक से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह लोकनीति के अनुसार विधि उल्लंघनकारियों तथा अपराधियों को दण्डित करे। प्रत्येक व्यक्ति को समाज के प्रति अपना कर्तव्य निभाना आवश्यक था अन्यथा उसे कर्तव्य पालन न करने के लिए दण्डित किया जाता था।[6]

वैदिककाल तथा स्मृतिकाल

वेदों में कहीं-कहीं पर विधि के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में कर्मकाण्ड (rituals) को विशेष महत्व प्राप्त था। यदि वेद और स्मृति में किसी विषय पर विरोधाभास हो, तो वेद में दी गई व्यवस्था ग्राह्य होती थी तथा स्मृति में दी गई तत्सम्बन्धी व्यवस्था को अमान्य किया जाता था। परन्तु स्मृतियों की रचना वेदकाल के पश्चात्काल में होने के कारण व्यावहारिक विधि की दृष्टि से उनका महत्व वेदों से अधिक माना गया था।

स्मृतिकालीन विधि – व्यवस्था का स्वरूप धर्मसूत्र, धर्मशास्त्र, पुराण तथा गाथाओं आदि में मिलता है। न्यायालयों द्वारा स्मृतियों को अधिकारपूर्ण माना गया है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति तथा कात्यायन आदि धर्मशास्त्रियों ने विधि सम्बन्धी सभी नियमों को स्वरचित धर्मशास्त्रों में श्लोकबद्ध करने का प्रयास किया। विशेषतः मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति को विधिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। स्मृतियों में धार्मिक, नैतिक और सामान्य विधि के सिद्धान्तों में स्पष्ट भेद नहीं मिलता है क्योंकि उस समय धर्म, नैतिकता तथा विधि-अनुपालन आदि सभी मनुष्य के कर्तव्यों पर आधारित थे। परन्तु ऐसे अनेक उदाहरण भी हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि स्मृतिकारों को धार्मिक, नैतिक तथा सामान्य विधि के विभेदों के विषय में जानकारी थी।

कालान्तर में हिन्दू शासकों के संरक्षण में शासककारों ने इन स्मृतियों पर टीकायें लिखीं जिनका मूल उद्देश्य उनमें दी गई विधि सम्बन्धी व्यवस्था को न्याय संस्थाओं में प्राथिकृत रूप से मान्यता प्राप्त कराना था जिससे वाद-निर्णय में उनका प्रयोग हो सके। स्मृति के अन्य प्रमुख टीकाकारों में ग्यारहवीं शताब्दी में लिखी गई धारेश्वर की मनुस्मृति पर टीका प्रसिद्ध है।[7]

हैदराबाद में कल्याण के राजा विक्रमादित्य के संरक्षण में विज्ञानेश्वर की याज्ञवल्क्य स्मृति पर सुप्रसिद्ध टीका मिताक्षर लिखी गई जो हिन्दू विधि की मिताक्षरा शाखा की जन्मदात्री है। अकबर के राजस्व मन्त्री टोडरमल के 'टोडरनामा' में व्यवहार और धर्म आचरण के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन दी गई है।



पुराणकाल –

वेद, स्मृतियों तथा उनकी टीकाओं के अतिरिक्त पुराणों में भी प्राचीन विधि व्यवस्था की परछाईं दिखलाई पड़ती है। वैसे तो पुराण अनेक हैं परन्तु उनमें वेद व्यास द्वारा रचित अठारह पुराण मुख्य हैं जो महापुराण के नाम से प्रसिद्ध हैं।

प्राचीन रूढ़ियाँ

प्राचीन भारत में प्रचलित रीतियों, रूढ़ियों तथा परम्पराओं को हिन्दू-कालीन विधि में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था तथा उन्हें धर्म के प्रमुख स्रोतों के रूप में मान्यता दी गई है। न्यायालयों ने भी रूढ़ियों को विधि से बढ़कर माना है। रामनद के मुकदमे में प्रिवी कौंसिल ने यह अभिनिर्धारित किया था कि “प्रथा के स्पष्ट सबूत का महत्व (वजन) विधि के लिपिबद्ध पाठ से कहीं अधिक है।” रूढ़ियों का जनसाधारण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।

प्रथायें स्वयं में सुव्यवस्थित होती हैं तथा उनका जनसाधारण में प्रचलित रहना स्वयं में यह प्रमाण होता है कि समाज उन्हें मान्य करने का इच्छुक व तैयार है। विधि के रूप में प्रथाओं को वेद तथा स्मृतियों से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है क्योंकि वेदों को ईश्वर प्रदत्त तथा स्मृतियों को आर्षवाणी पर आधारित माना गया है। ईश्वर के द्वारा प्रदत्त धर्म निर्देशन के कुछ अंश ऋषियों को याद नहीं रहे परन्तु व्यवहार में उन्होंने इन्हें अपना लिया, जो कालान्तर में रूढ़ि या प्रथाओं के रूप में स्थापित हो गये।[8]

मीमांसा, भाष्य तथा निबन्ध

प्राचीन भारत की विधि – व्यवस्था में मीमांसा शास्त्रों का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इनमें श्रुतियों के विवादास्पद अंशों को समस्या के रूप में प्रस्तुत कर उनका निष्कर्ष उत्तर के रूप में दिया गया है। सारांश यह है कि हिन्दू विधि की अनेक समस्याओं का स्पष्टीकरण मीमांसकों द्वारा लिखे गये सूत्रों में उपलब्ध है। मीमांसकों में कुमारिल भट्ट, माधवाचार्य तथा भगवान उपवर्ष आदि प्रमुख हैं।

मनु के अनुसार केवल श्रुति तथा स्मृतियाँ ही प्राचीन विधि के प्रमुख प्रामाणिक स्रोत थे परन्तु युग-परिवर्तन तथा विधि के उत्तरोत्तर विकास के कारण अन्य स्रोतों का अध्ययन अनिवार्य हो गया। स्मृतियों में दिये गये विधि सम्बन्धी नियम मूल प्रमाण-ग्रन्थ हैं तथा भाष्यों में इन्हीं स्मृतियों की टीका अथवा व्याख्या की गई है। निबन्धों में किसी विषय-विशेष पर अनेक स्मृतियों के पाठों को उद्धृत कर निबन्ध के रूप में लिपिबद्ध किया गया है जिससे उस सम्बन्ध में विधि स्पष्ट हो जाये।

मेक्समूलर के अनुसार प्राचीन भारतीय विधि-दर्शन में मानव आचरण में धर्म, कर्म, अर्थ और मोक्ष को सर्वाधिक बल दिया गया था जिसमें शासक का हस्तक्षेप न्यूनप्राय था क्योंकि, प्रजा स्वयं अपने कर्तव्यों तथा दायित्वों के प्रति जाग्रत थी।[9]

परिणाम

कौटिल्य का अर्थशास्त्र –

भारत की न्याय व्यवस्था मै कौटिल्य के अर्थशास्त्र का योगदान अभूतपूर्व है। अर्थव्यवस्था मानव जीवन की समृद्धि से सम्बद्ध होने के कारण उसका राज्य प्रशासन तथा विधि-व्यवस्था से हमेशा निकट सम्बन्ध रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से अर्थशास्त्र की रचना प्राचीन भारत के धर्मशास्त्र काल में ही हुई थी। परन्तु इस क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण योगदान चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री कौटिल्य (चाणक्य) का रहा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उत्तम राज्य व्यवस्था, राजनैतिक दाँव-पेंच तथा अनुशासन व्यवस्था के लिए विधि सम्बन्धी विस्तृत नियम दिये गये हैं।

कौटिल्य ने धर्मशास्त्र को आधार स्तंभ मानते हुये शासक (king) को न्याय का स्रोत (fountain of Justice) माना है तथा शासक से यह अपेक्षा की कि वह अपनी प्रजा का संरक्षण मातृतुल्य भावना से करे। प्राचीन धर्म कर्तव्य पर आधारित होने के कारण इसके

अन्तर्गत जाति धर्म, संप्रदाय आदि के भेदभाव को कोई स्थान नहीं था। प्राचीन भारत की 'वर्ण व्यवस्था' सामाजिक सहयोग एवं समेकता पर आधारित थी न कि वर्तमान समय की तरह निज स्वार्थ हेतु समाज को विभाजित करने वाली जाति पर। तत्कालीन वर्ण-व्यवस्था श्रम-विभाजन के आर्थिक सिद्धान्त (Economic principle of division of labour) पर आधारित थी।[10]

प्राचीन भारत में एक निश्चित विधि तथा न्याय प्रणाली प्रचलित थी जिसमें विभिन्न अपराधों की परिभाषा तथा व्याख्या स्पष्ट रूप से थी। दण्ड अधिकारियों की योग्यताओं और कर्तव्यों का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया गया था। अपराधियों को उनके अपराध के अनुसार दण्डित किया जाता था। साक्ष्य, उत्तराधिकार, दाय्याधिकार आदि सम्बन्धी नियम निश्चित एवं सुस्पष्ट थे। अभियोगी का परीक्षण उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर किया जाता था। विचारण काल (Trial period) में वह किसी ब्राह्मण या पण्डित का परामर्श ले सकता था।

भारतीय 'धर्मशास्त्र' में गहन रुचि रखने वाले पाश्चात्य विधि-विचारक सर विलियम जोन्स, जर्मन विधिशास्त्री फ्रेड्रिक चलेगेल (Fredrick Schlegel), फ्रांसीसी दार्शनिक विक्टर कजिन (Victor Cousin) तथा प्रोफेसर मेक्समूलर (Prof. Max Muller) ने वेदांत-दर्शन (Vedic Philosophy) को धर्म, विधि तथा नीति का एक ऐसा अद्भुत समन्वय निरूपित किया है जिसके फलस्वरूप सामाजिक समेकता (Social Solidarity) तथा विधि की शुचिता को संबल प्राप्त होता है।

प्राचीन विधि-दर्शन सांसारिक तथा भौतिक सुख का विरोधक नहीं अपितु इसके अधीन प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह समान आधार पर सम्पत्ति का उपयोग और उपभोग करे। पक्षकारों को अपना पक्ष 'वकील' के माध्यम से प्रस्तुत करने की सुविधा थी परन्तु हत्या, डकैती, जारता, शीलभंग, मिथ्या-साक्ष्य तथा न्यायाधीश की सम्पत्ति का विध्वंस करने आदि जैसे गम्भीर अपराधों के लिए अभियुक्त को व्यक्तिगत रूप से न्यायालय में उपस्थित होकर अपना पक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक था।

मिथ्या साक्ष्य के लिये दोषी व्यक्ति को विशेष रूप से कठोरतम दण्ड दिया जाना था। अपने पक्षकार की ओर से पैरवी करने वाले वकील तथा पूजा, होभ, हवन, यज्ञकार्य, दान, धर्म-युद्ध आदि में व्यस्त व्यक्ति को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता था।[11]

इसी प्रकार गृह-निर्माण के कार्य में व्यस्त कारीगर, संदेशवाहक तथा चित्रकार आदि वर्ग के प्रति कानून विशेष रूप से उदार था तथा उन्हें बन्धनमुक्त रखा जाना आवश्यक समझा जाता था। गवाह के रूप में न्यायालय में उपस्थित ब्राह्मणों के प्रति उदार नीति थी तथा उन्हें साक्ष्य देते समय सच बोलने की हिदायत देना आवश्यक नहीं समझा जाता था क्योंकि उनके सदाचरण के विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं थी। वेदों में

निपुण पण्डितों अथवा संन्यासियों को तथा कोढ़ी व्यक्ति, दस्यु (slave), अंधा व्यक्ति, अवयस्क (पन्द्रह वर्ष से कम आयु के व्यक्ति) व अस्सी वर्ष से अधिक आयु के वृद्ध को सामान्यतः साक्षी के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा था। गम्भीर अपराध सिद्ध हो जाने पर दोषी व्यक्ति को किसी अन्य प्रकरण में साक्षी के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता था।

प्राचीन हिन्दू-कालीन न्याय-व्यवस्था में अपराधियों के दोषी होने अथवा निर्दोष सिद्ध करने के लिए उनका अग्नि-परीक्षण किया जाता था। अग्निपरीक्षा में अग्नि अथवा पानी का उपयोग विशेष रूप से किया जाता था। अपराधी को आग में तपी हुई गरम लोहे की छड़ हाथ में थामने अथवा उसे जलती आग पर कछ कदम नंगे पैर चलने के लिए बाध्य किया जाता था। यदि अपराधी इस परीक्षा में खरा उतरता था तो वह निर्दोष माना जाता था तथा उसे तुरन्त मुक्त कर दिया जाता था।[12]

परन्तु अग्नि-परीक्षा के परिणामस्वरूप उसे किसी प्रकार की चोट या घाव पड़ने पर उसे सिद्धदोष माना जाता था तथा उसके लिए यही दण्ड पर्याप्त था। इसी प्रकार अभियोगी के दोष या निर्दोषता की परख के लिए उसे उबलते हुये पानी में डुबो देना अथवा तेज जल-प्रवाह में फेंक दिया देना व उसके सकुशल जीवित निकल आने पर उसे निर्दोष मान कर छोड़ देना परन्तु उबलकर मृत हो जाने पर या बहते पानी में डूब कर मर जाने की दशा में यह समझा जाता था कि वह व्यक्ति अपराध के लिए दोषी था।

प्राचीन कालीन दण्ड-विधान में अपराधी का सिर कलम कर दण्ड देना सामान्य रूप से प्रचलित था। इस प्रकार कुछ अपराधों के लिए दोषी व्यक्ति को जाति या समाज से बहिष्कृत कर देना, गम्भीर अपराधों में अपराधी के एक या दोनों हाथ अथवा पैर काट देना आदि दण्ड देने के स्वरूप भयावह एवं कठोर थे। यही कारण था कि उस काल में अपराधों की संख्या बहुत कम थी।

शास्त्रों में जारता सम्बन्धी अपराध के लिए विस्तृत उपबन्ध दिये गये हैं। परस्त्री से सहवास करना, उसके साथ एकान्त में रहना, किसी स्त्री की मूक सहमति मानकर उसे बुरी नियत से एकांत में ले जाना आदि जारता के गम्भीर प्रकार थे जिसके लिए स्त्री तथा पुरुष दोनों को ही समान रूप से अर्थदण्ड दिया जाता था। शीलभंग (rape) के लिए दोषी व्यक्ति का गुप्त अंग काट दिया जाता था तथा उसकी सम्पत्ति पूर्णतः या अंशतः जब्त कर ली जाती थी। कभी-कभी इस अपराध के लिए दोषी व्यक्ति को जलाकर मार डालने का दण्ड भी दिया जाता था।[13]

उपरोक्त विवेचन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्राचीन भारत की न्याय व्यवस्था (दण्ड-व्यवस्था) पश्चात्पूर्वी मुस्लिम या इंगलिश दण्ड-पद्धति की तुलना में कम कठोर थी। हिन्दूकालीन दण्ड-व्यवस्था के विरुद्ध प्रायः यह दोषारोपण किया जाता है कि इसके अन्तर्गत समाज के विशिष्ट वर्ग, ब्राह्मणों के प्रति विशेष उदारता बरती जाती थी जो न्यायिक दृष्टि से उचित नहीं थी। परन्तु उस समय ब्राह्मणों के आचरण का स्तर आदर्शमय था उनकी पवित्रता या सदाचारी होने के विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं थी।

समाज उन्हें आदर की दृष्टि से देखता था तथा तत्कालीन समाज में उन्हें सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। उल्लेखनीय है कि धर्म-संरक्षकों के प्रति विशेष उदारता केवल भारतीय विधि-व्यवस्था में ही नहीं थी वरन् अन्य प्राचीन देशों में भी धर्मगुरुओं को इस प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे। उदाहरणार्थ, पुरातन आंग्ल विधि में 'बेनिफिट ऑफ क्लर्जी' (Privilegium Clericales) की व्यवस्था अनेक वर्षों तक प्रचलित थी। इसी प्रकार मुस्लिम दण्ड-विधि में मौलवियों के लिए उदार दण्ड की व्यवस्था थी।

मनुस्मृति में यह उल्लेख मिलता है कि हिन्दूकाल में व्यावहारिक (civil) तथा आपराधिक (criminal) वादों को निपटाने के लिए पृथक न्यायालय थे जिनके निर्णय पर राजधानी स्थित शासक की न्याय सभा में अपील प्रस्तुत की जा सकती थी। अनेक मामलों पंचों की मध्यस्थता (Arbitration) से निपटाए जाते थे जिनमें बहुधा पंचों की न्यूनतम संख्या पाँच हुआ करती थी।

प्राचीन भारत की वैदिक न्याय व्यवस्था की सराहना करते हुये हिन्दू विधि के सुविख्यात टीकाकार सर मैयॉन (Sir Mayne) ने कहा है कि यद्यपि वर्तमान भारतीय विधि एवं न्यायालयीन पद्धति का स्रोत ब्रिटिश शासन द्वारा इस देश में प्रारंभ की गई न्याय-व्यवस्था को माना जाता है फिर भी प्राचीन हिन्दू विधिशास्त्र के अंतर्गत सुव्यवस्थित एवं सुस्थापित न्याय पद्धति अस्तित्व में थी जिसका आंशिक प्रभाव वर्तमान भारतीय न्याय व्यवस्था में भी दर्शित होता है।[14]

प्राचीन भारतीय विधि-दर्शन के संदर्भ में फ्रांसिस मेक्नाॅटन (Francis Mac Naughten) ने लिखा है कि "प्राचीन भारत का विधि शास्त्र उतना ही पुराना है जितना कि मानवीयता, इसका जनक जग-निर्माता ईश्वर के सिवाय अन्य कोई नहीं है। यह पुरातन सनातन धर्म पर आधारित है जिसका भारत में सदियों से अनुपालन किया जा रहा है।

सनातन धर्म में सभी धर्मों की आत्मा तथा सार संग्रह का समावेश होने के कारण यह कभी समाप्त नहीं होगा। वैदिक काल में विधि को धर्म का ही एक स्वरूप माना जाने के कारण इन दोनों में कोई भेद नहीं था और वे एक ही व्यवस्था के अभिन्न अंग थे। शब्द 'सनातन' से आशय ऐसे सदाचरण से है जो अतिप्राचीन तथा अविलोपनीय है इसीलिये इसे कभी समाप्त न होने वाला माना गया है।

समाज के विभिन्न घटकों के लिये अपने धर्म का अनुपालन करना आवश्यक था-जैसे शासक के लिए राजधर्म, संसारी व्यक्ति के लिये गृहस्थ धर्म, महिलाओं के लिये 'नारीधर्म', गुरुधर्म, पतिधर्म, मानवधर्म आदि। डॉ. काणे के अनुसार समय के साथ पुरातन सनातन धर्म में परिवर्तन होते गये और वर्तमान समय में इसे मानव के समाज के प्रति कर्तव्य तथा दायित्व के रूप में देखा जाता है।

निष्कर्ष

जूरी का महत्व

यदि उनके साथ तीन, पांच या सात जूरी सदस्य जिन्हें सभ्य कहते हैं, का पालन नहीं किया जाता है, तो राजा और मुख्य न्यायाधीश अदालत का मुकदमा शुरू नहीं कर सकते। यह अपेक्षा की जाती थी कि वे निष्पक्ष और निडर थे। चुप रहने वाले एक जूरर की निंदा की गई। और यदि यह राजा के विपरीत था, तो उन्हें अपनी बात रखनी चाहिए। विभिन्न प्रकार के प्रमुख

न्यायविदों का तर्क है कि राजा या न्यायाधीश को जूरी के फैसले द्वारा निर्देशित किया जाना चाहिए, और राजा ने मामले को अपनी राय के अनुसार निपटाने के अपने अधिकार का प्रयोग तभी किया जाए जब जूरी एक निश्चित निर्णय पर नहीं आए।

चूंकि वे धर्मशास्त्रों में पारंगत (वेल-वर्ल्ड) थे, इसलिए ये सब्य आमतौर पर ब्राह्मण थे। हालाँकि, पवित्र कानून के ज्ञान के संबंध में कोई आवश्यकता नहीं है जब मामले (विवाद के पक्ष) में किसानों, व्यापारियों और वनवासियों के बीच संघर्ष शामिल हो। धर्मशास्त्र के लेखकों ने स्वयं प्रस्तावित किया कि मामलों की सुनवाई स्वयं पार्टियों की जातियों या व्यवसायों से चुने गए जूरी सदस्यों की सहायता से प्राप्त की जाए। सुकरा कानून अदालतों में मान्यता प्राप्त एजेंटों को एक मामले की रक्षा के लिए नियुक्त करने की प्रथा को संदर्भित करता है, जब एक पक्ष खुद अपनी व्यस्तता या कानून की अज्ञानता के कारण ऐसा करने में असमर्थ था। ऐसे एजेंटों को नियोगिन के रूप में जाना जाता था और उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने दलों के हितों की बहुत सावधानी से रक्षा करें। संपत्ति के मूल्य के अनुसार उनकी फीस में अंतर 6% से आधी होता था। यदि वे दूसरे पक्ष के साथ मिलीभगत करते हैं, तो उन्हें राज्य द्वारा दंडित किया जाता है।[15]

प्रचलित वाक्यों में जुर्माना, कैद, निर्वासन, अंग-भंग और मृत्युदंड थे। जुर्माना सबसे व्यापक था और अभियुक्त की जाति के साथ सजा भी भिन्न थी। जेल सेवा सन्निधाता नामक एक अधिकारी के अधीन थी, और बंधननगराध्यक्ष जेलर का नाम था। अलग-अलग वार्डों में पुरुष और महिला कैदियों को रखा गया था।

वैदिक और प्रारंभिक वैदिक काल के दौरान न्याय का प्रशासन

नमन को प्राचीन भारत में धर्म के स्वामी के रूप में न्याय का फव्वारा माना जाता था और उन्हें न्याय के प्रशासन का एकमात्र अधिकार सौंपा गया था और उनकी प्राथमिक जिम्मेदारी अपने विषय के अधिकारों की रक्षा करना थी। राजा का दरबार सर्वोच्च अदालत थी, और मुख्य न्यायाधीश का अदालत इसके बगल में (प्रद्वीवक) था। इस प्रकार, न्यायाधीशों का एक पदानुक्रम था। ग्राम परिषदें (कुलानी) गाँवों में बुनियादी नागरिक और आपराधिक विवादों से निपटती हैं। न्याय को अंजाम देने के लिए राजा के क्षेत्राधिकार के तहत सरकारी अधिकारियों द्वारा शहरों और जिलों में उच्च स्तर पर अदालतों की निगरानी की जाती थी। शिल्प समुदाय के सदस्यों, व्यापारियों आदि के बीच समस्याओं से निपटने के लिए ट्रेड गिल्ड को अपने सदस्यों पर प्रभावी अधिकार का प्रयोग करने की अनुमति दी गई थी। मौजूदा पारिवारिक अदालतें भी थीं। एक ही गाँव में परिवारों के समूहों द्वारा आयोजित पुगा सभाओं द्वारा परिवार के सदस्यों के बीच नागरिक विवादों का समाधान किया गया। गाँवों में छोटे-छोटे या गंभीर आपराधिक अपराधों को न्यायिक परिषदों द्वारा निपटाया जाता था।

मौर्य काल में न्याय प्रशासन

राजा न्याय का मुखिया था, कानूनों का स्रोत (सोर्स) था, और वह महत्वपूर्ण परिणाम के सभी मामलों पर शासन करता था। प्रदेशिक, महामात्रों और राजुकों की अध्यक्षता वाले कस्बों और गाँवों में ज्यादातर अलग-अलग अदालतें थीं। दो प्रकार की अदालत स्थापित किए गए हैं: धर्मस्थेय सिविल मामलों से संबंधित और कंटकशोधन आपराधिक मामलों से निपटने के लिए। सभी प्रमुख कस्बों और मुख्यालयों में कम से कम एक अदालत और एक पुलिस मुख्यालय विकसित किया गया है। गाँवों में छोटे-छोटे मामलों का निर्णय गाँव के बुजुर्गों द्वारा उनकी पंचायतों में किया जाता था। हिंदू संहिता (कोड), जैसा कि शास्त्रों में परिकल्पित (एनविसाज्ड) है, सिविल कार्यवाही में प्रशासित किया गया है। विश्वसनीय लोगों के तथ्यों पर भरोसा था। सरकार के करों (टैक्सेज) की चोरी, झूठे सबूत देने, कारीगरों को चोट पहुंचाने, साधारण चोरी आदि जैसे छोटे अपराधों के लिए भी सजा बहुत गंभीर थी। इन सभी मामलों में, शरीर को क्षत-विक्षत (म्युटिलेट) कर दिया गया है। सात कोड़े मारने सहित अठारह प्रकार की यातनाएँ होती थीं। दंड संहिता वास्तव में प्रासंगिक थी।[16]

आपराधिक संहिता बहुत कठोर थी और सख्ती से लागू की जाती थी। विचार दूसरों के लिए एक मिसाल कायम करना और उन्हें गलत काम करने से रोकना था। मेगस्थनीज सभी "मौर्य कानून और व्यवस्था के लिए" प्रशंसा करते हैं। वह रिपोर्ट करता है कि "कुछ अपराध थे; हत्या और चोरी लगभग अज्ञात थे, लोगों ने शायद ही कभी अपने दरवाजे बंद किए और राज्य ने जीवन और संपत्ति की सुरक्षा की गारंटी दी। "

गुप्ता टाइम्स

गुप्त साम्राज्य (एम्पायर) न केवल अपनी संरचना की विशालता के कारण बल्कि परोपकारी भी था। इसमें मंत्रिमंडल (काउंसिल ऑफ मिनिस्टर्स) और राज्यों के उच्च अधिकारियों के रूप में संवैधानिक जाँच थी। पूरे प्रशासन को अक्सर संवैधानिक उपयोगों की स्वतंत्रता की विवेकपूर्ण व्याख्या (इंटरप्रेटेड) द्वारा निर्देशित किया जाता था। गुप्त काल में न्यायिक प्रशासन प्रारंभिक काल की तुलना में कहीं अधिक विकसित था। इस अवधि के दौरान, पहली बार कई कानून पुस्तकों का संकलन किया गया। और अच्छी तरह से परिभाषित नागरिक और आपराधिक नियम थे। मुख्य न्यायिक अधिकारी को 'महादंडनायक' कहा जाता था, लेकिन मुख्य न्यायाधीश राजा/सम्राट थे। राजा राज्य का सर्वोच्च कानूनी निकाय था और इसलिए संघर्षों को निर्धारित करता था। उसके निर्णय निरपेक्ष थे, लेकिन अकेले राजा इतने बड़े साम्राज्य का न्यायिक शासन जारी नहीं रख सकता था। उन्हें कई न्यायाधीशों द्वारा उनके न्यायिक कर्तव्यों के निर्वहन में भी सहायता की गई थी। दरबार को चार वर्गों में विभाजित किया गया था: राजा दरबार, पूग, श्रेणी, कुलिक। हम पहले ही न्यायालयों के प्रकारों पर चर्चा कर चुके हैं। गुप्त काल के दौरान दंड बहुत हल्का था। मृत्युदंड और दर्दनाक विच्छेदन (एम्प्युटेशन) जैसी सजा शायद ही कभी दी गई हो। गुप्त शासन के दौरान, मौर्य काल में आपराधिक कानून उतने चरम नहीं थे। आपराधिक मामलों को केंद्रीय अदालत में ले जाया जाता था, जिसे आमतौर पर राजा या शाही प्राधिकरण (अथॉरिटी) के अधीन रखा जाता था। अपील की पद्धति का प्रयोग किया गया था और अपील का सर्वोच्च निकाय सम्राट था।[16]

वकीलों की कमी प्राचीन भारतीय कानूनी व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। एक और उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि न्याय का संचालन करने के लिए अक्सर दो या तीन न्यायाधीशों की एक बेंच के लिए चुना जाता था, न कि एक व्यक्ति को एकमात्र न्याय प्रशासक होने के लिए।

संदर्भ

- 1) न्यायदर्शन - एक परिचय
- 2) न्यायदर्शनम, वात्स्यायनभाष्य सहित (उदयनारायण सिंह द्वारा हिन्दी अनुवाद)
- 3) न्यायसूत्र (देवनागरी में सम्पूर्ण पाठ)
- 4) हिन्दी व्याख्या सहित श्री केशवमिश्रप्रणीता तर्कभाषा (बद्रीनाथ शुक्ल)
- 5) न्यायसिद्धान्त मुक्तावली (न्यायकारिकावली की टीका) (गूगल पुस्तक; लेखक - डॉ धर्मन्द्रनाथ शास्त्री)
- 6) तर्कभाषा केशवमिश्रप्रणीता हिन्दी व्याख्या सहित (बद्रीनाथ शुक्ल)
- 7) श्री केशव मिश्र कृत तर्कभाषा तथा उसकी हिन्दी टीका (आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणिकृत तर्करहस्यदीपिका)
- 8) S. Kak (2004). The Architecture of Knowledge. CSC, Delhi.
- 9) ↑ प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि अवयवाः (न्यायसूत्र, प्रथम अध्याय, प्रथम भाग, सूत्र ३२)
- 10) ↑ Colebrooke, Henry Thomas "Essays on the Religion and Philosophy of the Hindus" London: Williams and Norgate, 1858 available online at <https://archive.org/details/essaysonreligio00colegoog>
- 11) ↑ Mueller, Max "Of Indian Logic" Appendix To Thomson's Laws of Thought, London: Longmans Green and Co 1853 online at <https://archive.org/details/anoutlinenecess03thomgoog>
- 12) ↑ Boole, Mary Everest. "Collected Works", eds E M Cobham and E S Dummer. London, Daniel 1931. Letter also published in the Ceylon National Review in 1909, and published as a separate pamphlet "The Psychologic Aspect of Imperialism" in 1911.
- 13) ↑ Jonardon Ganeri (2013) [2001], Ganeri, Jonardon (ed.), Indian Logic: A Reader, Richmond, Surrey: Routledge, p. vii, ISBN 9781136119385, The modern study of classical Indian systems of logic began with H. T. Colebrook's "discovery" of the Hindu syllogism - a schema for correct reasoning as described in the early Indian texts. The report of his discovery to the Royal Asiatic Society in 1824 led to a flurry of interest in Indian logic in the next thirty years, attracting the attention of even the best logicians of the time, people like Boole and De Morgan."
- 14) ↑ George Boole's Laws of Thought and Indian logic (Subhash Kak)
- 15) ↑ De Morgan, Augustus "Syllabus of a proposed system of logic", London : Walton and Maberly 1860; online at <https://archive.org/details/syllabusofpropos00demoiala>
- 16) ↑ Weyl, Hermann "The Theory of Groups and Quantum Mechanics", 1950, p.viii; online at <https://books.google.com/books?id=jQbEcDDqGb8C>



INNO SPACE
SJIF Scientific Journal Impact Factor
Impact Factor: 8.118



ISSN INTERNATIONAL
STANDARD
SERIAL
NUMBER
INDIA



INTERNATIONAL JOURNAL OF INNOVATIVE RESEARCH

IN SCIENCE | ENGINEERING | TECHNOLOGY

 **9940 572 462**  **6381 907 438**  **ijirset@gmail.com**



www.ijirset.com

Scan to save the contact details